सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

4

लिंग, समाज और इतिहास

शालिनी शाह

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2013

NMML Occasional Paper

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© शालिनी शाह, 2013
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखिका की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखिका के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011

ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 978-93-83650-05-7

मूल्य रूपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

लिंग, समाज और इतिहास*

शालिनी शाह**

लिंग, समाज और इतिहास विषय पर मैं न केवल लैंगिक संबंधों की अवधारणा को रेखांकित करना चाहूंगी अपितु इस तथ्य को भी उजागर करुंगी कि किस प्रकार इस अवधारणा का प्रयोग करके हम इतिहास को एक नवीन दृष्टि से देख सकते हैं। वह दृष्टि जो स्त्री और पुरुष के रिश्तों के प्रति संवेदनशील है। लिंग का सिद्धांत नारीवादी चेतना के साथ जुड़ा है। किंतु नारीवादी इतिहास लेखन ने पहल, लैंगिक संबंधों की अवधारणा के साथ नहीं की। आरम्भ में 'नारीवाद' केवल स्त्रियों को विषय वस्तु बना कर सामने आया। इन आरंभिक नारीवादी बुद्धिजीवियों का मत था कि मानवीय संचेतना में स्त्रियां कहीं मौजूद ही नहीं हैं। अतः इतिहास में उन्हें चिन्हित करना आवश्यक है।

इतिहास बीते हुए काल का पुनर्निर्माण है और इस काल में स्त्री और पुरुष, राजा और रंक सभी रहे हैं। किंतु यह सर्वविदित है कि जिस तरह रंक इतिहास में उपेक्षित रहा है, उसी तरह स्त्रियां भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। इसकी वजह क्या है? इतिहास स्रोतों के आधार पर लिखा जाता है और यह स्रोत अगर लिखित हैं तो भी यह पुरुषों द्वारा रचित और नियंत्रित रहे हैं और अगर स्रोत पुरातात्विक भी हैं तो भी पुरातत्वविद् और नृविज्ञानी जो इस प्रकार के स्रोतों का अध्ययन करते हैं, वह भी पुरुषोचित पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं रहे हैं। देखा जाए तो ऐतिहासिक स्रोतों में स्त्रियां दोहरे रूप सें अनुपस्थित थीं। प्रथम तो इस तरह के पुरुष द्वारा रचित स्रोतों में स्त्रियां मूक थीं और दूसरा

---

* 4 मार्च, 2013 को नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

** शालिनी शाह दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में असोसिएट प्रोफेसर हैं।

इस तरह कि यदि उनके स्वर यदा–कदा सुनाई भी पड़ते हैं, तो वह इसलिए कि वे पुरुषों की तरफ से बोलती हुई नज़र आती हैं। इस तथ्य को विद्वान नारीयोचित संवेदना यानि *फैमिनिन कांशसनेस* का नाम देते हैं। हमारे स्रोतों में पतिव्रता धर्म को बखानती स्त्रियां इसी श्रेणी में आती हैं। नये दौर के इतिहासकारों के सामने एक प्रश्न यह था कि यदि स्त्रियां स्रोत और इन स्रोतों की राजनीति में कहीं दखल नहीं रखतीं, तो क्या नारीवादी इतिहास लिखना असंभव है?

इस प्रश्न के उत्तर में नये इतिहासकारों ने कहा कि यदि हमें स्त्रियों को इतिहास के पन्ने पर उद्धृत करना है तो हमें एक ओर तो नये प्रकार के स्रोतों का गठन करना होगा और साथ ही पुरानी परिपाटी के स्रोतों को नई दृष्टि के मद्देनज़र रखते हुए परखना पड़ेगा। इस नये दृष्टिकोण को बुद्धिजीवियों ने नाम दिया *फैमिनिस्ट कांशसनेस* यानि 'नारीवादी संचेतना'। अगर हम ध्यान से देखें तो पुराने स्रोतों में इस संचेतना के कई उदाहरण हमारे सामने आते हैं जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नारी न केवल पुरुषोचित समाज की रूढ़ियों और नारी शोषण का उन्मूलन करने में कृतसंकल्प है अपितु इसी समाज में अपने अस्तित्व को भी विस्थापित करने में उसे कोई हिचक नहीं है। कवयित्री विज्जिका एक ऐसी ही संस्कृत की कवयित्री थीं जो अपनी बौद्धिक योग्यता के प्रति पूरी तरह प्रबुद्ध थी और यथास्थान उसका ढिंढोरा पीटने में भी उन्हें कोई झिझक नहीं थी ।

काव्यादर्श के लेखक दण्डी द्वारा सरस्वती को सर्वशुक्ला बताये जाने पर आपत्ति जताते हुए विज्जिका कहती हैं –

> ''इस बात से अनभिज्ञ कि मैं नीलकमल के समान सांवली हूं, दण्डी व्यर्थ ही सरस्वती को सर्वशुक्ला कहते हैं''।

अपने काव्य सामर्थ्य की श्रेष्ठता जताते हुए विज्जिका यहां तक कह डालती हैं –

> ''एक कमल से पैदा हुआ, दूसरा नदी के तट पर और तीसरा वाल्मीकि से – यह तीन ब्रह्मा, व्यास और वाल्मीकि महान

कवि हैं और इन्हें मैं नमन करती हूं किंतु यदि कोई अन्य पुरुष हमें अपनी साहित्य रचना से लुभाना चाहें, तो मैं अपना दाहिना पैर उनके मस्तक पर रखती हूं''। विज्जिका का यह बौद्धिक अहम् मात्र निजी तौर पर शेखी बघारना नहीं है, अपितु वह पूरी नारी जाति की ओर से इसे बोलने की शक्ति की दावेदारी करती हैं। यह इस बात से ही सिद्ध होता है कि जहां संपूर्ण संस्कृत साहित्य में पारखियों के लिए रसिक और सहृदय जैसे पुरुषवाचक शब्द ही मिलते हैं, विज्जिका उनके लिए लिंग निरपेक्ष 'जनस्य' शब्द का इस्तेमाल करती हैं।

पितृशासित समाज में स्त्री का चरित्र इस आधार पर खंडित अथवा प्रशंसित होता है कि उसका यौन व्यवहार मर्यादित है अथवा नहीं। किंतु पुरुषों से ऐसी कोई अपेक्षा नहीं की जाती। हमारे स्रोतों के नारी पात्र इस दोगली मर्यादा को नकारते हुए दिखाई पड़ते हैं। *यशस्तिलकचप्पु* में हमें अमृतमती का वृत्तांत मिलता है जो बिना स्त्री की इच्छा के सम्पन्न की गई विवाह की विधि को बेचने से कम नहीं समझती– ''*देव, द्विज अग्नि समक्षम, मातृपितृ विक्रितस्य*''। अमृतमती का मानना है कि ऐसे विवाह के उपरांत पति स्त्री के शरीर का तो स्वामी हो सकता है किंतु उसके हृदय को नहीं पा सकता। श्रृंगारी संस्कृत काव्य में जहां सुंदरी युवती ही नायिका का पर्याय है, उस पर आक्षेप लगाते हुए कवयित्री शीलाभट्टारिका कहती हैं कि ''कितना अन्यायसंगत है इस समाज का विधान जो वृद्ध पुरुष को तो प्रेम करने से नहीं रोकता, किंतु स्त्री को लटकते हुए वक्षस्थल (यानि वृद्धावस्था) की मर्यादा में बांध देता है''।

हम जिस 'नारीवादी संचेतना' की बात कर रहे हैं, उस तक नया इतिहास अकस्मात् ही नहीं पहुंच गया था। आरम्भ में नारीवादी इतिहास में स्त्रियां केवल पारंपरिक इतिहास की पुस्तकों में एक परिशिष्ट के रूप में सामने आईं और जिस प्रकार की स्त्रियों का वर्णन हमें मिलता है वह कुछ रानियां इत्यादि थीं। हालांकि, इस प्रकार के इतिहास का फायदा यह हुआ कि स्त्री संबंधी अनुभव और आंकड़ों की एक समृद्ध परम्परा सामने आई। परन्तु, स्त्री इतिहास की परिसीमा यह थी कि

इसने गहरे पैठे हुए पुरुषोचित इतिहास पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ा। अगर हम पीछे दृष्टिपात करें, जिसे हम अंग्रेजी में कहते हैं– 'हाइंड साईट', तो हम देखेंगे कि जैसे मानव शरीर में अपेंडिक्स का अवयव होता है, उसी प्रकार स्त्री संबंधी चिंतन और लेखन इतिहास की पुरुषोचित प्रमुख धारा (मेनस्ट्रीम) को बिना क्षुब्ध किये एक अतिरिक्त विषय के रूप में जोड़ दिया गया। स्त्री के इतिहास को बर्दाश्त तो किया गया, किंतु वह इतिहास की शिक्षा प्रणाली के उद्देश्यों से असंपृक्त रहा। इस नयी इतिहास रचना की उन्मूलनकारी चुनौती को पृथक क्षेत्र में परिवर्तित करके उसे हाशिए पर कर दिया गया ।

नारीवादी इतिहासकारों के सामने न केवल पुराने स्रोतों और उनके परख के तरीकों की आलोचना एक चुनौती थी, अपितु नये इतिहास को लिखने के लिए नई मीमांसा के आधार यानि एपिस्टेमॉलोजीज़ को ढूंढना भी जरूरी था। नारीवादी इतिहास के सम्मुख यह बात साफ थी कि नये स्रोतों को अन्य विषयों के विनिमय यानि इंटर–डिसिप्लिनेरिटी के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप सामाजिक नृशास्त्र (सोशल एन्थ्रोपॉलोजी), समाज शास्त्र (सोशयालॉजी), मनोविज्ञान (साइकालॉजी) इत्यादि वह विषय थे जहां स्त्री परिवार, गृह और मानसिकताऐं हमेशा से अन्वेषण और विश्लेषण के विषय रहे थे, जब कि पारंपरिक इतिहास लेखन इन सब विषयों से अछूता था।

पारंपरिक इतिहास की दो मुख्य विशेषताएं थीं, कालक्रम निर्धारण (क्रानोलोजी) और काल–निर्धारण (पीरियोडाइज़ेशन)। नारीवादी इतिहास ने इन दोनों की आलोचना प्रस्तुत की। पितृसत्ता का विकास एक घटना न होकर एक प्रक्रिया है। अतः कालक्रम निर्धारण को हमें एक विस्तृत पैमाने पर देखना होगा हालांकि इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि यह इतिहास बदलते समय यानि 'चेंज ओवर टाइम' की अवधारणा को नकारता है। ज़रूरत सिर्फ यह है कि सामाजिक परिवर्तनों को पहचानने के लिए हमें संवेदनशील होना पड़ेगा क्योंकि यह परिवर्तन राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरह साफ नहीं दिखाई पड़ते। उदाहरणस्वरूप प्राचीन भारत में यदि हम विधवा स्त्री का ग्राफ देखें तो वह एक जैसा नहीं था। पुनर्विवाह (ऋग्वेद) से नियोग (महाभारत) तक और फिर साध्वी (मनुस्मृति) से सती (उत्तर गुप्तकाल) तक विधवाओं ने एक लम्बा

रास्ता तय किया है किंतु, उनके जीवन के परिवर्तनों को राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के मद्देनज़र रखते हुए परखना इतना सरल नहीं है। जहां तक काल–निर्धारण यानि पीरियोडाइज़ेशन का सवाल है तो हमें उसके तहत दिये हुए ज्ञान यानि 'रिसीव्ड विज़डम' की आलोचना प्रस्तुत करनी होगी। उदाहरण के लिए, प्राचीन एथेन्स को लोकतंत्र का जन्म–स्थान माना जाता है, किंतु एथेन्स की नारियां इस लोकतंत्र की उपलब्धियों से कोसों दूर थीं। प्राचीन भारत के संदर्भ में वैदिक काल में नारियों की उच्च स्थिति को लेकर भी अनेक आलोचनाएं सामने आई हैं।

नारीवादी इतिहासकारों ने जहां पारंपरिक इतिहास लेखन की अकाट्य आलोचना प्रस्तुत की वहीं दो मुख्य मीमांसा के आधारों को भी नये इतिहास लेखन का आधार स्तम्भ बनाया। मैक्स वैबर की पितृसत्ता की अवधारणा उधार लेकर उन्होंने उसका एक नवीन संशोधित रूप पेश किया। नारीवादी बुद्धिजीवियों ने पितृसत्ता को आपस में जुड़ी हुई संस्थाओं की एक ऐसी प्रणाली बताया जिससे पुरुष समाज सदियों से नारी का शोषण करता आया है। पितृसत्ता की यह अवधारणा बहुत समय तक बेहद लोकप्रिय रही किंतु धीरे–धीरे इसकी आलोचना भी उभर कर आई। विदुषी शीला रोबोथम ने कहा कि पितृसत्ता की अवधारणा की एक कमी तो यह है कि वह दोनों लिंगों के बीच एक स्थाई प्रतिरोध के सिद्धांत को बढ़ावा देती है और इस तरह स्त्री और पुरुष के मध्य सहायक रिश्तों के वजूद को नजरअंदाज करती है। रोबोथम के अनुसार पितृसत्ता द्वारा स्त्री शोषण का यह सार्वभौमिक और अऐतिहासिक एकांकी निर्णयात्मक सिद्धांत इतिहास के क्रम में स्त्रियों द्वारा पितृसत्ता के विरोध की जटिलताओं से बेखबर रहा है और वैसे भी हर काल और प्रत्येक संस्कृति में सारे स्त्री पुरुष एक जैसे नहीं हो सकते, इस बारीकी की भी पितृसत्ता की अवधारणा अवहेलना करती है।

इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि हर अवधारणा को अधिक लचीला और अर्थछायित (नुआन्सड) बनाने की आवश्यकता है। परंतु साथ ही हमें इस बात को भी मानना होगा कि इतिहास स्वयंमेव प्रश्नों के उत्तर नहीं देता। हमें इतिहास के सामने प्रश्न रखने पड़ते हैं और इन प्रश्नों को रखने के लिए मीमांसा के आधारों की जरूरत पड़ती है। पितृसत्ता की अवधारणा को अऐतिहासिक बता कर

उसे खारिज नहीं किया जा सकता। पितृसत्ता की ऐतिहासिकता को स्थापित करने के लिए उसके उद्‌गम को तलाशना आवश्यक नहीं है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था के एकमात्र कारक न तो होते हैं न ही स्रोतों की खंडीकृत (फ्रैगमैन्टिड) प्रवृत्ति एकांकी निर्णयात्मक सिद्धांतों को ढूंढने में मदद कर सकती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पितृसत्ता अपने विभिन्न रूपों में बीते काल में मौजूद थी और यही अपने आप में इतिहास है।

जहां तक स्त्री–पुरुष के मध्य पोषक रिश्तों का प्रश्न है, इस बात से भी कोई इनकार नहीं करता कि हर काल और हर समाज में ऐसे रिश्ते होते हैं पर क्या वह रिश्ते किसी समाज विशेष की रूढ़ियों को ध्वंस कर पाते हैं ? उदाहरणस्वरूप, जातिप्रथा के विरुद्ध कबीर, दादू और रैदास की अत्यंत सशक्त वाणी है और आधुनिक भारत में महात्मा गांधी ने शूद्रों को हरिजन बताया किंतु क्या इससे भारत में जातिप्रथा समाप्त हो गई। अन्ततः समाज को परखने के लिए हमें उसकी मूलभूत वास्तविकता का सूक्ष्म परीक्षण करना पड़ेगा।

आमूल परिवर्तन वाले नारीवाद ने पितृसत्ता की जिस अवधारणा को परवान चढ़ाया था, उसकी परिसीमाओं का जायज़ा लेते हुए नये दौर के नारीवाद ने लैंगिकता यानि 'जेण्डर' के सिद्धांत को सामने रखा। यह सिद्धांत स्त्री और पुरुष के बीच के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक संबंधों और वह संबंध किस प्रकार उनके मध्य सत्ता का नियमन करते हैं, इस पर ध्यान केंद्रित करता था। इस नई अवधारणा का सकरात्मक पहलू यह था कि वह समग्र मानवीय संबंधों, न सिर्फ स्त्री, को समझने के लिए दृष्टि प्रदान करता था जैसे नताली ज़ेमांन डेविस कहती हैं, स्त्री और पुरुष दोनों के इतिहास को देखना जरूरी है। केवल शोषित लिंग यानि सबजैक्टिड सेक्स को एकांकी रूप में नहीं देखा जा सकता। ठीक उसी प्रकार जिस तरह वर्ग या क्लास के इतिहासकार केवल कृषकों और श्रमिकों की बात नहीं कर सकते। उन्हें समझने के लिए पूंजीवादी वर्ग को भी समझना जरूरी है। लैंगिक अवधारणा की एक और खूबी यह थी कि वह जैविक कारकों यानि बॉयलाजिकल फैक्टर्स को नजरंदाज़ करके उसे एक सामाजिक सांस्कृतिक रचना, यानि सोशियो–कल्चरल कंस्ट्रक्ट के रूप में प्रस्तुत करते थे।

तात्पर्य यह कि 'सैक्स' और 'जेण्डर' दो अलग–अलग सिद्धांत हैं। उदाहरणस्वरूप, स्त्री का मासिक स्राव जैविक सत्य है किंतु उसकी वजह से उसे अपवित्र घोषित करना एक सांस्कृतिक निष्कर्ष है। हमें ऐसी स्त्री के लिए अपने स्रोतों में 'रजस्वला' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है – गंदगी से भरी हुंई। स्त्री का जन्मदात्री होना जैविक सत्य है, किंतु वही संतान के संवर्धन के लिये भी जिम्मेवार हो यह एक लैंगिक संस्कृति को दर्शाता है ।

लिंग की अवधारणा पितृसत्ता से इस तरह से अधिक ऐतिहासिक थी कि वह पुरुषोचित (मैस्कुलिन) और स्त्रीयोचित (फैमिनिन) व्यवहार को एक संस्कृति विशेष की देन मानती थी। यह आत्म–परख पहचान (सबजैक्टिव आइडेंटिटी) किस तरह पुनरुत्पादित यानि रिप्रोडयूस होती है, इसे समझने के लिए हमें मानसिक रूढ़ियों को समझना होगा और चूंकि मानसिकता सामाजिक विचारधारा से असंपृक्त नहीं है, अतः लिंग की अवधारणा अन्ततः समाज के आदर्श मूलक (नार्मेटिव) और प्रतीकात्मक (सिम्बालिक) दोनों पहलुओं से जुडी हुई है। हालांकि, लैंगिक संबंधों की अवधारणा स्त्री और पुरुष के बीच की असमानता को समझने की एक सुदृढ़ नींव प्रदान करती है, परंतु इस अवधारणा को हम समाज में फैली सारी असमानताओं को समझने के लिए रामबाण की तरह इस्तेमाल नहीं कर सकते।

भारत के संदर्भ में अगर हम देखें तो जातिप्रथा का अस्तित्व लैंगिक असमानता से किसी प्रकार कम नहीं है। इसलिए यदि हमें अपने समाज का इतिहास पूरी ईमानदारी के साथ लिखना है तो लैंगिकता को जाति के साथ जोड़ कर देखना होगा। उदाहरण के लिए, आप शूद्र स्त्री के शोषण को केवल लिंग के संदर्भ में नहीं पढ़ सकते। वस्तुतः ऐतिहासिक दूरदर्शिता तो यह है कि यह स्त्रियां अपनी जातीय हैसियत में अधिक स्वतंत्र हैं, किंतु अपने वर्ग दर्जे में अधिक शोषित हैं (They are freer in their caste status, but more exploited in their class status)। एक ओर जहां पितृसत्तात्मकथा ब्राहम्णीय व्यवस्था ऊंची जाति की महिलाओं को नियंत्रित करती थी क्योंकि वर्ण/जाति की शुचिता (Purity) उनकी स्त्रियों की यौन शुचिता पर निर्भर करती थी, वहीं शूद्र महिलाओं पर यह नियंत्रण नहीं था। किंतु उनकी नीची जाति उनके श्रम और उनकी

देह दोनों के शोषण का मार्ग प्रशस्त करती थीं। यशोधर *कामसूत्र* की अपनी टीका में चर्षणी का जिक्र करते हैं जो सामंतीय लोगों के खेतों पर बेगार करते हुए शारीरिक शोषण का भी शिकार होती थी। गोवर्धनाचार्य अपने 12वीं शताब्दी ई0 के काव्य *आर्यासप्तशती* में एक ऐसी ही शूद्र नारी का वर्णन करते हैं जो तंतुवायस यानि जुलाहा जाति की होने के कारण 'नागरभोग' यानि कुलीन पुरुषों की भुजिष्या बन कर रह गई।

लिंग की अवधारणा की एक परिसीमा यह थी कि सामाजिक संरचना (सोशल कन्सट्रक्ट) होने के बावजूद पुरुषों की सत्ता का स्पष्टीकरण मुख्यतः दो प्रकार से सामने आया। स्त्री की प्रजनन क्षमता पर पुरुषों का आधिपत्य या फिर स्त्री को महज़ सम्भोग की वस्तु बना कर उसे अधीनस्थ करना। दोनों ही स्थितियों में स्पष्टीकरण स्त्री और पुरुष के बीच के शारीरिक भेद को तूल देता था और इस तरह सार्वभौमिक और अपरिवर्तनीय होने का आभास देता था। इन परिसीमाओं के बावजूद लैंगिक संबंधों की अवधारणा ने इतिहास को समझने की एक क्रांतिकारी दृष्टि प्रदान की, उसी तरह जिस प्रकार एक सदी पहले वर्ग की अवधारणा ने सामाजिक संबंधों को देखने के हमारे नजरिए में मूलभूत परिवर्तन ला दिया था।

क्या लिंग के सिद्धांत के आधार पर हम स्रोतों को वाकई एक भिन्न दृष्टि से देख सकते हैं? मैं उसका उत्तर संस्कृत साहित्य को आधार बना कर तीन केस स्टडीज़ के माध्यम से देना चाहूंगी। पितृसत्ता वाले समाज में विरक्ति *(रिनन्सिऐशन)* अनुरक्ति *(डिज़ायर)* और देखने की शक्ति (गेज़) तीनों ही लैंगिक संरचनाएं हैं – they are gendered constructs.

सन्यासी धर्म, चाहे वह ब्राहम्णीय हो अथवा बौद्ध और जैन, पुरुष का विशेषाधिकार है। संयासी धर्म में शरीर की राजनीति स्त्री और उसके शरीर को अपने जुगुप्सा का केंद्र बनाती हैं। वैराग्य परम्परा की खासियत यह है कि यहां पुरुष संयासी का ब्रह्मचर्य स्वयं उसके संदर्भ में समस्या का विषय न होकर स्त्री के शरीर को समस्या के रूप में प्रदर्शित करता है। भर्तृहरि *वैराग्यशतक* में स्त्री को 'निन्द्यारूपम्' बताते हुए उसके

मुख को फलगम का पात्र और जंघाओं को मूत्र से भीगी हुई बताते हैं। उन्हें आश्चर्य है कि कवि कैसे इस स्त्री को चंद्रमुखी और उसकी जंघाओं को हाथी की सूंढ के समान सुडौल बता सकते हैं। सन्यासियों के लिए स्त्री की कोख और उससे उत्पन्न संतान संसार की बेड़ी थी और वैराग्य मार्ग में बाधा थी। ज्ञातव्य है कि सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण उस क्षण होता है जब उसकी सद्यःप्रसूता पत्नी यशोधरा, शिशु राहुल को जन्म देकर चुकी होती है। दिगम्बर जैन, आचार्य कुंदकुंद के लिए स्त्री के शरीर में असंख्य सजीव कीटों अपर्याप्त का वास है जिसका प्रतिपल नाश होता है चूंकि स्त्री का शरीर ही हिंसा का स्थल है। कुंदकुंद का मानना है कि स्त्री मोक्ष की हकदार नहीं है। किंतु जब विचारक लैंगिकता के परे समझने की शक्ति रखते हैं, तो विरक्ति का यह पितृसत्तात्मक स्वरूप बदल जाता है। यापनीय पंथ के आचार्य शाकटायन अपने स्त्रीनिर्वाण प्रकरण में कहते हैं कि स्त्री का शरीर किसी भी प्रकार पुरुष के शरीर से भिन्न नहीं है और इसलिए पुरुषों की भांति स्त्रियां भी मोक्ष की हकदार हैं। पुरूषोचित वैराग्यवाद के विपरीत लैंगिक पूर्वाग्रह से मुक्त तांत्रिक सहजयान परंपरा में न तो शरीर के प्रति कोई विरक्ति दिखाई पड़ती है और न ही स्त्रियों को निन्दा का पात्र बता कर उन पर दोषारोपण किया जाता है।

पुरुषोचित यानि मैसकुलिन संस्कृति में स्त्री पुरुष की नग्न दर्शन लोलुप दृष्टि जिसे आप अंग्रेजी में कहेंगे Scopophilic gaze का निरंतर लक्ष्य बनी रहती थी। नारी देह का यह नग्न प्रदर्शन संस्कृत काव्य में नखशिख वर्णन के रूप में हमारे समक्ष आता है। नायिका के केश और भाल से उसके चरणों के नाखूनों तक कवि की कल्पना तृष्णातुर दृष्टि डालती है। इसके विपरीत एक भी साहित्यिक उदाहरण हमें नहीं मिलता जहां नायक का शरीर नायिका की ऐसी ही दृष्टि का लक्ष्य बनता हो। वस्तुतः हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में स्त्री की दृष्टि है ही नहीं और मैं यहां उद्धृत करना चाहूंगी जॉन बर्जर को जिन्होंने यूरोपियन आर्ट के संदर्भ मे यह बात कही है कि "men alone look and women are looked at". संस्कृत साहित्य में हमें नायिका के कटाक्ष यानि कनखियों से देखने का जिक्र जरूर मिलता है, किंतु कटाक्ष द्वारा नायिका नायक को कामातुर दृष्टि से निहारती नहीं है, अपितु नायक की दृष्टि को अपनी और खींचने का प्रयत्न करती है

जिससे वह उसे देखें– तात्पर्य यह है कि सबजैक्ट और ऑबजैक्ट की जो डिवाइड पुरुष और नारी के मध्य है वह इस कटाक्ष दृष्टि में वैसे ही बरकरार रहती है। हमारे स्रोतों में जिन दो अवसरों पर स्त्री को देखने का हक है, वह है राजदर्शन और देवदर्शन के लिए उठी स्त्री की भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि।

जैसा मैंने पहले कहा, संस्कृत काव्य में नायिका के नखशिख वर्णन का बाहुल्य है, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या नायक सुंदर नहीं होते या फिर उनके सौन्दर्य का ज़िक्र नहीं होता? हम देखते हैं कि नायक का सौन्दर्य साहित्यकारों के लिए शारीरिक न होकर आंतरिक है। *दशकुमारचरित* के नायक उपहारवर्मन का सौन्दर्य इस बात में निहित है कि वह ''शिल्पशीलविद्याज्ञानकुशलो युवामहाकुलीनश्च'' है। इस पूरे वर्णन में जिन विशेषणों की भरमार दिखाई पड़ती है उसमें केवल युवा ही एक मात्र ऐसा विशेषण है जो नायक की शारीरिक विशेषता (फिज़िकैलिटी) को इंगित करता है। नायक की उपस्थिति उसकी चारित्रक विशेषताओं जैसे तेज औदार्य धैर्य, गांभीर्य, आदि गुणों से मापी जाती है। अतः 'षोडषी' और 'तनवंगी' जैसे विशेषण केवल स्त्री के लिए मिलते हैं, पुरुष के लिये नहीं। हालांकि, हमारे स्रोत मे 'वराहरोह' और 'वरारोहा' विशेषण पुरूष और स्त्री दोनों के लिए मिलता है, परंतु उनका अर्थ एकदम भिन्न है। स्त्री वाचक वराहरोहा का अर्थ है सुंदर नितम्ब वाली वहीं। वराहरोह का अर्थ है अच्छा आरोहक। कहने का तात्पर्य यह है कि जो विशेषण स्त्री के सन्दर्भ में उसके शारीरिक सौन्दर्य को बखानता है, वहीं पुरुष के संदर्भ में प्रयुक्त विशेषण उसकी निपुणता का द्योतक है।

यदि विरक्ति और देखने की दृष्टि पर केवल पुरुष का एकाधिकार है तो अनुरक्ति यानि *डिज़ायरिंगसबजेक्टिविटी* भी पितृ सोच वाले समाज में केवल पुरुष की ही है। कोक्का पंडित अपने *कामशास्त्र रतिरहस्य* में स्त्री को एक सपाट उदर (कृशमुदरम) और उन्नत वक्ष (कुचोन्नतिकरण) वाले ऐसे शरीर को प्राप्त करने के गुर देते हैं जिससे वह 'रसिक ह्रदय' को वशीभूत कर सके। *आयुर्वेद* में वृष चिकित्सा *(विर्लीफिकेशन थैरेपी)* केवल पुरुष के लिए है और सुंदर व युवा स्त्री चरक और वाग्भट्ट के अनुसार पुरुष की इस चिकित्सा में केवल एक औषधि (ऐफरोडिसिक) मात्र है *(स्त्रीवृषतमा मतः)*। संस्कृत के कामशास्त्रीय साहित्य में नायिका

की काम संवेदना का गौण होना इस बात से भी दिखाई देता है कि यह साहित्य काम संबंधों के सन्दर्भ में पद्मिनी नायिका को सर्वश्रेष्ठ और हस्तिनी नायिका को सब से हीन कोटि में रखता है। पद्मिनी नायिका का सर्वोत्तम होने का कारण यह है कि वह अत्यधिक लज्जालु है (गाढ़ लज्जा) जबकि हस्तिनी बिना किसी संकोच के (वीतलज्जा) काम संबंधों में अपनी इच्छा को, जिसे शास्त्रज्ञ क्रूर चेष्टा बताते हैं, व्यक्त करती है। इसके विपरीत संस्कृत काव्य शास्त्र में रति तंत्र से मूढ़ नायक है ही नहीं। भानुदत्त अपनी *रसमंजरी* में कहते हैं कि अनभिज्ञ नायक श्रृंगार रस में रसाभास की स्थिति उत्पन्न कर देगा। स्त्री की आत्म परख अनुरक्ति का गौण होना इस बात से भी पता चलता है कि वह पुरुष की काम याचना को अस्वीकार नहीं कर सकती। यदि नायिका 'सुरतपरांगमुखी' है तो नायक जबरन (ग्राह्मबाहुबलैन) सम्भोग कर सकता है और जहां स्त्री की अनुरक्ति पुरुष में न होकर स्त्री में है, तो *आयुर्वेद* इसे उसकी शारीरिक और मानसिक कमी के रूप में देखते हैं। ऐसी स्त्री को योनि रोगग्रसित 'अस्तनी', 'नृद्वेष्णी' बताया जाता है।

संस्कृत साहित्य के इस लघु सर्वेक्षण से यह बात तो स्पष्ट होती है कि लिंग की अवधारणा स्रोतों को एक नवीन दृष्टि से परखने में सहायक सिद्ध हुई है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बर्जर, जान, 1872, *वेज ऑफ सीईग,* पेन्गिइन, 1991।
2. जेरो, जोन तथा कान्की, मार्गरेट (सं), 1991, *इन्जेण्डरिंग आर्कियोलॉजी : वूमेन इन प्रीहिस्ट्री*।
3. जैनी, *पद्मनाभ, जेण्डर ऐण्ड सालवेशन : जैन डिबेटस ऑन दि स्टिरिचुअल लिबरेशन,* मुंशीराम मनोहरलाल।
4. शाह, शालिनी, रिवाईज्ड एडीशन, 2012, *दि मेकिंग ऑफ वूमेनहुड : जेण्डर रिलेशंस इन दि महाभारत,* मनोहर।
5. शाह, शालिनी, 2009 *लव, इरोटिसिज़्म ऐण्ड फीमेल सैक्शुरगैलिटी इन क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर 700–1300 ई0,* मनोहर, 2009।